

दलित लेखन की सामाजिक चेतना

सारांश

हिन्दी में दलित आत्मकथाएं दलित विमर्श और नारी विमर्श का दहकता दस्तावेज साबित हो रही हैं। दलित आत्मकथाओं में आत्मकथाकारों के व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवनानुभव बड़ी बेबाकी के साथ आये हैं। भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था तले हजारों वर्षों से उपेक्षित जीवन जी रहे समाज का चित्रण दलित आत्मकथाओं का विषय रहा है। मनुवादी व्यवस्था में जिनका जीवन नरक और दासता की जकड़न में रहा है। दलितों की सच्ची, जीति जागती तस्वीर दलित आत्मकथाओं में दिखायी देती है। मनुवादी समाज के शिकार दलितों ने उपेक्षा, छुआछूत, पीड़ा, विवशता, अन्याय, भूख लाचारी, अभाव, दरिद्रता, संत्रांस, जातिभेद को भोगा है, ऐसे समाज में आज शिक्षा का आगमन होने से इनकी मनोव्यथा आत्मकथाओं में आने लगी। हिन्दी में दलित महिलाओं की दो आत्मकथाएं ही नजर आती हैं। एक कौसल्या बैसन्त्री का दोहरा अभिशाप तो दूसरा सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द'। दलित आत्मकथाओं में ओम प्रकाश वाल्मीकि का 'जूठन', सूरजपाल चौहान का 'तिरस्कृत', डॉ. जाटव का 'मेरा सफर मेरी मंज़िल', श्यामलाल जैदिया का 'एक भंगी उपकुलपति की आत्मकथा', उमेश कुमार सिंह की 'दुख-सुख के सफर में' आदि प्रसिद्ध आत्मकथाओं में सुशीला टाकभौरे का 'शिकंजे का दर्द' अपना अलग महत्वपूर्ण स्थान रखती है। 'शिकंजे का दर्द' दलित महिला आत्मकथाकारों के लिए आगाज़ है।

सरिता

शोधार्थी

हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय,

बून्दी, राजस्थान

मुख्य शब्द: संत्रांस, दारिद्र्य, आत्मसंघर्षरत, जाग्रत, वर्णभेद, सवर्ण, विमर्श, उपेक्षा, अस्पृश्यता, स्वामित्व प्रताड़ना स्तब्ध क्रूर, मिस्ट्रेज, निर्भय, जद्दोजहद

प्रस्तावना

वर्तमान समय में हिन्दी में दलित जीवन में विभिन्न विधाएं सामने आई हैं। इन विधाओं में दलित आत्मकथाओं ने दलित साहित्य को नई दिशा दी है। दलितों का यथार्थ वास्तविक रूप इनकी आत्मकथाओं में ही अंकित होता है। आत्मकथा के जरिये दलित समाज का सम्पूर्ण दारिद्र्य, अज्ञान, यातनाओं, पीड़ाओं और शोषण का तीखा और यथार्थ चित्रण करते हैं। दलित आत्मकथा के विषय में डॉ. भगवान दास का कहना है – “आत्मकथा लिखना दलितों के लिए फायदेमन्द होगा, क्योंकि इस तरह न केवल दलित इतिहास जिन्दा रहेगा बल्कि वे अनुभव भी जिन्दा रहेंगे जो गलत काम करने वालों को सही तस्वीर तथा भविष्य में प्रेरणा देने का जरिया भी बन सकेंगे।¹ दलित आत्मकथाएं दलितों की सामाजिक स्थिति का स्वर देने का काम करने के साथ-साथ समाज में सामाजिक चेतना और अस्मिता बोध को जगाती है। डॉ. विमल थोराट ने लिखा है – “दलित आत्मकथाएं आज दलित समुदाय के विभिन्न आयामों को अपने अन्दर समेट कर शोषण के उस हर पहलू की एक समाजशास्त्रीय चिकित्सक की दृष्टि से चीर-फाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और उसके अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल करती हुई दिखाई देती है।²”

दलित आत्मकथाएं दलित समाज की समस्याएं उजागर करती हैं। हिन्दू समाज की वर्णवादी व्यवस्था की विसंगतियां उजागर करती हैं। दलित आत्मकथाओं ने इस व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में विचार व्यक्त किया है – “हिन्दी में जितनी भी आत्मकथाएं आएंगी, दलित साहित्य का फलक उतना ही बढ़ेगा।³ आत्मकथाओं के माध्यम से संघर्ष के नए-नए रूप सामने आए हैं और दलितों की सही पहचान हो पाई है।

दलित आत्मकथाओं पर अपनी टिप्पणी करते हुए डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं – “इनमें दलित छवि एक सचेतन आत्मसंघर्षरत स्वामिनी व्यक्ति की छवि के रूप में उभरकर आई है। दलित आत्मकथाकार अतीत की

भद्री तस्वीरें देखते हैं। साथ-साथ उन हाथों को भी पकड़ते हैं जिन्होंने कई सौन्दर्य से भरी जीवन झाँकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है।⁴ कई कारणों से दलित साहित्य में आत्मकथाओं का बड़ा महत्व रहा है। भारतीय समाज वर्ण और जाति व्यवस्था पर आधारित है। सवर्ण समाज स्वार्थ के लिए दलितों का इस्तेमाल करता रहा है वर्ण व्यवस्था से समाज में असमानता फैली है। दलितों की स्थिति समाज के हाशिए पर ही रही है। दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार होते रहते हैं। दलित हमेशा से ही अपनी मुक्ति के लिए संघर्षरत रहे हैं। जहाँ स्त्री का सवाल है वो वैसे ही दलितों में भी दलित मानी जाती रही है। फिर दलित स्त्री की यातना तो और भी गहरी है। 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा यही दर्शाती है। जिस प्रकार से शिकंजे में फंसा जानवर मुक्ति के लिए संघर्ष करता रहता है और मुक्ति नहीं मिलने पर छटपटाता रहता है उसी छटपटाहट में उसका दर्द उतना ही बढ़ता जाता है। वह मजबूर, लाचार विवश होकर दर्द पीड़ा सहता रहता है। दलितों में भी दलित समझी जाने वाली स्त्री मनुवादी समाज व्यवस्था के शिकंजे से मुक्ति के लिए छटपटाती रही है वही लाचार और विवश नारी का जीवन जीती दिखाई देती है। आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में लेखिका ने स्वयं के साथ हुए शोषण, यातना संघर्ष, पीड़ा संत्रास का वर्णन किया है। दलित आत्मकथा में दलित रचनाकारों की अपनी पीड़ा, यातना तथा विक्षोभ के साथ-साथ समाज का भी सजीव तथा वास्तविक चित्रण होता है। दलित आत्मकथाओं के बारे में वाल्मीकि जी कहते हैं – "किसी भी दलित द्वारा लिखी आत्मकथा सिर्फ उसकी जीवन गाथा नहीं होती, बल्कि उसके समाज की जीवन गाथा भी होती है। लेखक की आत्म-अभिव्यक्ति होती है। अपने जीवन के दुःख दर्द, अपमान, उपेक्षा के साथ ही अपनी जाति एवं समाज के दुःख दर्द और अपमान, उपेक्षा इत्यादि को भी स्वर देता है।"⁵ दलित लेखन में सम्पूर्ण दलित समाज का विवरण है।

दलित नारी जन्म से लेकर मृत्यु तक जो पीड़ा, घुटन, अत्याचार, दुःख दर्द, उपेक्षा को सहती रही है। अब इनके विरुद्ध विद्रोह का भाव प्रकट कर रही है। 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा में यही विद्रोह निकलकर सामने आता है। आत्मकथा की भूमिका 'मनोगत' में कहती है – "बचपन से युवावस्था तक मेरे जीवन के दिन अनेक प्रकार के शिकंजों से जकड़े हुए थे इस जकड़न के कारण मेरे जीवन और व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध होता रहा।"⁶ वे आगे अपनी विचारधारा को व्यक्त करते हुए कहती हैं कि कभी ऐसा लगता है मैंने अपने जीवन को पूर्ण रूप से नहीं जिया। जिसका ठोस कारण वर्णभेद, जातिभेद थे। इनकी हर बात के लिए बन्धन और अंकुश होता था। इस स्थिति में सुशीला जी को शिकंजे का दर्द भोगना पड़ा है। दलित स्त्री आत्मकथाओं में सामाजिक परिवेश समस्या और संघर्ष मुख्य रूप से उजागर हुआ है। दलित स्त्री को जीवन में शिक्षित होने के लिए संघर्ष, पारिवारिक व दाम्पत्य संबंध का दश जातिगत पहचान की वजह से प्रगति के हर कदम पर आने वाली कठिनाईयों से जूझना, आर्थिक सबलता के लिए कठिन प्रयास, स्त्री होने के कारण घर और बाहर होने वाली अवहेलना,

अपमान और शोषण की तिहरी मार को झेलना पड़ता रहा है। लेखिका ने अपनी आत्मकथा में इन प्रसंगों, घटनाओं, संघर्षों का चित्रण प्रमुखता से किया है।

भारत में हर गांव में दलित बस्ती एक तरफ दक्षिण-पश्चिम छोर पर होती हैं। सुशीला जी की बस्ती भी गांव के अंतिम छोर पर थी। सुशीला टाकभौरे जी का जन्म मध्यप्रदेश के बानापुरा गांव में दलितों में भी दलित समझे जाने वाले परिवार में हुआ। समाज में ऊँच-नीच, छुआछूत की भावना सर्वत्र विद्यमान थी। उस समय गांवों में छुआछूत जातिभेद बहुत गहरा हुआ करता था। जहां सुशीला जी रहती थी वहां सवर्ण सम्पन्न लोगों के घर गांव के ऊपर की ओर थे दूसरी ओर पिछड़े दलित मजदूरों की बस्ती थी। अछूत जाति के लोगों को समाज व्यवस्था के नियम के अनुसार गांव से बाहर बसाये जाते थे। लेखिका का परिवार भी समाज शोषण का शिकार हुआ था। समाज में गरीबी और शोषण का जीवन जीते-जीते दलित समाज छटपटा रहा है। दलितों के घर बस्ती से बाहर होते थे 'दोहरा अभिशाप' में कौशल्या बैसन्त्री ने उजागर किया है कि "दलितों की बस्ती सवर्ण बस्तियों से अलग होती थी। बस्ती से सटा एक नाला बहता था। सड़क के दूसरी ओर पक्की सड़कें बनी थी जो सवर्ण मकानों की ओर जाती थी। दलित बस्ती में अधिकांश अछूत थे अनपढ़ और मजदूर।"⁷ समाज में दलितों और सवर्णों के घर अलग-अलग होने से ही समाज की वर्ण व्यवस्था का पता चलता है। अपने इसी दर्द को बयां करते हुए 'अपने-अपने पिंजरे' आत्मकथा ने मोहन नैमिशाराय जी कहते हैं: "मेरठ शहर में छोटी सी हमारी बस्ती और ढेर सारे हमारे दुःख। वे दुख दर्द व्यक्तिगत भी होते और सामूहिक भी, किसी के कच्चे घर की छत टपकती तो किसी के घर में दीवारों में पानी रिसता। किसी परिवार में कोई विधवा होती तो किसी घर में बिन ब्याही जवान बेटी। हमारी बस्ती में ऐसे रंडवे भी होते जिनका कराव तक नहीं होता, उनकी गिनती न शादीशुदा मर्दों में होती और न विधुरों में। किसी को गठिया का दर्द तो किसी के गुर्दे का दर्द। किसी के भीतर का दर्द तो किसी के बाहर का दर्द। पीड़ा का समन्दर जैसे हमें चारों ओर से घेरे रहता। हम सभी किसी टापू में सिमटे से होते।"⁸ सुशीला जी ने अपनी आत्मकथा में अपनी बस्ती का यही विवरण किया है। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि भारतीय गांव व्यवस्था में दलितों का जीवन भेदभाव से पीड़ित रहा है।

जातिभेद के दश समाज में हमेशा से ही रहे हैं। ऐसी घटनाएं जो मानवता को शर्मसार कर दे हमेशा घटती रही है। 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा में सुशीला जी की अपनी नानी का जातिगत अपमान देखकर बहुत दुखी होती थी। उनको हमेशा नीच जाति का होने का अहसास कराया जाता था। उन्हें जातीय हीनता से दबाया जाता रहा है। सुशीला जी आत्मकथा में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहती हैं – "जब मैं छोटी थी माँ-पिताजी ने गाय पाली थी फिर उन्हें वह गाय बेचनी पड़ी। मैंने मां से पूछा था- अभी हम गाय क्यों नहीं पालते? माँ ने बताया- अपनी जाति के लोगों को गाय नहीं पालने देते।"⁹ दलितों को जाति के अनुसार कुत्ते, सूअर जैसे जानवर ही पालने

के निर्देश हैं। सवर्ण समाज दलित जाति से घृणा करते हैं तथा उनके प्रति निमर्मता तथा क्रूरता का व्यवहार करते हैं। अपनी इस पीड़ा को व्यक्त करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं— “मन में एक उबाल सा उठता था जो कहना चाहता था, मैं हिन्दू भी तो नहीं हूँ। यदि हिन्दू होता तो हिन्दू मुझ से इतनी घृणा, इतना भेदभाव क्यों करते? बात-बात पर जातीय बोध की हीनता से मुझे क्यों भरते? जातीय श्रेष्ठता- भाव अभिमान बनकर कमजोर को ही क्यों मारता है? क्यों दलितों के प्रति हिन्दू इतना निर्मम व क्रूर है?”

जाति के कारण ही दलित समाज ऊपर उठने के लिए हमेशा से ही संघर्षरत रहा है। सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा ‘तिरस्कृत’ में संस्कृत के अध्यापक वेदपाल शर्मा के विषय में लिखते हैं कि वे जाति का ओछापन मुझे हमेशा याद दिलाते रहते थे। एक दिन सूरजपाल की ओर संकेत करते हुए कहा था— “यदि देश के सारे चूहड़े चमार पढ़ लिख गए तो गली मौहल्लों की सफाई और जूते बनाने का कार्य कौन करेगा।”¹⁰ इस कथन से स्पष्ट होता है कि शहर के स्कूल का अध्यापक दलितों को गली मौहल्लों की सफाई और जूते बनाने के लिए अनपढ़ रखना चाहता है। दलित लेखकों ने अपने जीवन के जातीय दंशों को और उनसे उपजी शोषण की विभीषिका को अभिव्यक्त किया है। जिससे जाति व्यवस्था की अमानवीय विद्रूपता सामने आई है। वाल्मीकि कहते हैं— “इस पीड़ा के दंश को वही जानता है जिसे सहना पड़ा है।” दलित चाहे कितने भी उच्च पद पर आसीन हो जाए जाति उसका पीछा नहीं छोड़ती। सूरजपाल अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि जब उसकी जाति का पता जमींदार को चलता है तो वह दांत पीसता हुआ बोला— “अरे भंगनिया नेक पीछे कू हट के पानी पी, यह शहर न है, गांव है, मारे लठिया के कमर तोड़ दी जाएगी. ... भैजों, भंगिया और चमड़ा के सहर में जाके नए-नए लत्ता (कपड़े) पहन के गांव में आ जाता हैं। कुछ पतो न चलतु कि ये भंगिया के हैं कि नाय।”¹¹ साफ-सुथरे होने के बावजूद जाति की वजह से इतना तिरस्कार सहना पड़ता है। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा ‘अपने-अपने पिंजरे’ में जाति का उल्लेख करते हुए लिखते हैं — “हम कहीं भी जाएं, कितनी भी बड़ी कक्षा में पढ़े जातियां हमारा पीछा नहीं छोड़ती। जहां भी हम जाते हैं, वे भी बिना रोक टोक के आ पहुंचती हैं।”¹² जाति के बारे में लेखक के यह उद्गार मन को कितनी गहराई से निकले प्रतीत होते हैं। जाति के भीतर की जाति भेदभाव होना एक आश्चर्यजनक बात है। सवर्ण लोग तो दलित वर्ग से घृणा करते ही हैं। दलित भी अपनी जाति के लोगों से घृणा करने में नहीं चूकते। माता प्रसाद अपनी आत्मकथा ‘झोंपड़ी से राजभवन तक’ में एक घटना का वर्णन करते हुए कहते हैं— “कभी-कभी जाति के भीतर ही कुछ लोग भेदभाव करते हैं। कि आप भक्त हैं या सक्त। मैंने कहा कि मैं भक्त नहीं हूँ। इस पर अलग से रखे गए बर्तन को लाकर मुझे पानी पीने को दिया गया।”¹³ जाति का ऐसा बहुरूपिया रूप देखकर दिल को ठेस पहुंचती है। जाति के लिए अपमानित होना बहुत बड़ा दर्द है। जाति धर्म से बड़ी जटिलता है। जाति के रूप में दलित आज

भी जुल्मों का शिकार होता है। स्त्रियों को पढ़ाने का रिवाज उस समय नहीं था। पढ़ने लिखने का रिवाज सवर्ण जातियों का ही था। दलितों में भी लड़की हो तो पढ़ना असंभव बात थी। लड़कियों को पाल-पोसकर बड़ा करो और शादी कर दो यही रिवाज था। लेकिन सुशीला जी का परिवार शिक्षा के प्रति जागरूक था। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि अगर छुआछूत, जातिभेद, मनुवादी शोषण से मुक्ति पाना है तो सब कुछ सहकर शिक्षा ग्रहण करनी ही होगी। यहां उनकी सकारात्मक मानसिकता उजागर होती है। सुशीला जी की पढ़ाई में मां का सहयोग ज्यादा रहा। उनकी इच्छा थी उनकी बेटी पढ़-लिखकर विशेष योग्यता प्राप्त करे और एक अच्छी नौकरी पा सके। 1960 में उनका ऐसा सोचना उनका प्रगति-परिवर्तनवादी दृष्टिकोण दर्शाता है। उन दिनों दलित जाति के समुदाय में बच्चों की शिक्षा के प्रति माता-पिता जागृत नहीं थे। न लड़कों के प्रति न लड़कियों के प्रति। उस समय दलितों की मानसिकता इस प्रकार थी। “बच्चों को पढ़ाकर का होयगो। अपनी जात तो वही रहेगी काम रोजगार तो अपनी जात के ही करनो पड़ेगो, फिर क्यों बच्चों को परेशान करें।”¹⁴ ऐसी मानसिकता के कारण ही दलित समाज पिछड़ता जा रहा है। जहां एक ओर सुशीला जी का नाम स्कूल में लिखवाया जाता है वहीं दूसरी ओर उनका अछूत जातिभेद, वर्णभेद का दौर शुरू होता है। सवर्ण बच्चे आगे की पंक्ति में बैठते थे और दलित निम्न वर्ण के बच्चे पीछे की पंक्ति में बैठते थे। सुशीला जी कहती हैं कि “एक दिन मैं सबसे आगे की पंक्ति में बैठ गई उस दिन मुझे सब कुछ अच्छा लग रहा था लेकिन जैसे ही गुरुजी की नजर मुझ पर पड़ी तो देखकर जोर से चिल्लाये— सुशीला तुम आगे क्यों बैठी हो? तुम्हें तो सबसे पीछे बैठना चाहिए।”¹⁵ क्या शिक्षा लेने में भी दलित और सवर्ण का स्थान अलग-अलग होता है। यही भावना मन को झकझोर देती है। कौशल्या बैसन्त्री अपनी आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ में अपनी शिक्षा के दिनों का क्रूर व्यवहार और सामाजिक जातीय अत्याचारों का वर्णन करते हुए लिखती हैं— “जब मैंने कन्या पाठशाला में पांचवीं कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फीस ज्यादा थी। एक रुपये बारह आने। बच्चों की फीस देना मां-बाप के सामर्थ्य से बाहर था। बाबा ने हैड मिस्ट्रीज से बड़ी विनती की वे फीस नहीं दे सकते। वे मान गईं। बाबा ने उनके सामने सिर झुकाया दूर से, क्योंकि वे अछूत थे स्पर्श नहीं कर सकते थे।”¹⁶ दलितों को शिक्षा ग्रहण करना सवर्णों को नागवार गुजरता था। दलितों ने विषम परिस्थितियों में कैसे शिक्षा ग्रहण की। कागज-कॉपी खरीदना तो दूर की बात, दो वक्त की रोटी भी ठीक से नसीब नहीं होती थी। ऐसे वातावरण में शिक्षा ग्रहण करना कितना मुश्किल है।

डॉ. श्योराज सिंह बैचन ने इसके बावजूद अपने परिवार के सामने चुनौतीपूर्ण निश्चय किया— “मैं पढ़ेगो, एक फेरा कोशिश जरूर करूंगो। अगर दसवीं पास नांय करि पाओ तो हार मान लिंगो, पर बिना कोशिश करे तो नांय मानंगो, कोई मेरा संगु देरु या मत देरु। मैं एक-एक अक्षर के बदले अपने खून की एक-एक बूंद दे दंगो पर पढ़नो नांय छोड़गो।”¹⁷ श्योराज सिंह बैचन अपने

लगन, आत्मविश्वास और संघर्ष से लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रस्त स्कूली शिक्षकों के मन में दलितों के प्रति उसी तरह की घृणा है, जिस तरह दलितों के प्रति अनपढ़ सवर्ण में होती है। एक शिक्षित व्यक्ति की यह सोच शिक्षा प्रणाली पर प्रश्न चिन्ह लगाती है। दलित आत्मकथाकारों को शिक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ा है। शिक्षा ही एक मात्र ऐसा हथियार रहा है जो दलितों की स्थिति बेहतर बना सकता है। लेकिन दलितों को शिक्षा इतनी आसानी से नहीं मिलती। सवर्ण समाज हमेशा से ही निम्न वर्ण की शिक्षा के खिलाफ रहा है। दलितों को शिक्षा से वंचित कर उनके हालात निम्नतर बना देना आम बात है। सवर्ण कई बार ऐसे हालात पैदा कर देते थे जिससे दलित पढ़ाई छोड़ने को मजबूर हो जाते थे। ऐसा कई दलितों के साथ हुआ है। सुशीला जी के होनहार भाई को भी सवर्ण लोगों की मानसिकता के कारण ही शिक्षा से वंचित रहना पड़ा था। दलितों को शिक्षा प्राप्त के लिए काफी जद्दोजहद करनी पड़ती है। सुशीला जी ने भी अपने जीवन में शिक्षा के लिए पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों से दो चार होना पड़ा लेकिन उनके हौंसले बुलन्द होने से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की। दोहरा अभिशाप की लेखिका कौसल्या बैसन्त्री को भी शिक्षा के लिए काफी कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा लेकिन हार नहीं मानी और शिक्षा ग्रहण की। श्योराज सिंह बैचेन ने भी विषम परिस्थितियों में भी शिक्षा ग्रहण की। जिनके पास दो वक्त की रोटी नहीं थी ऐसे वातावरण में शिक्षा पाना काफी मुश्किल होता है लेकिन फिर भी कठिन परिश्रम और आत्मविश्वास से पढ़ाई जारी रखी। "शिक्षा शूद्र को न मिले सारे शास्त्र इसी कोशिश में लगे रहे हैं, दलित न पढ़े यह उपक्रम आज तक भी लगातार जारी है।"¹⁸ लेकिन अगर अपने इरादे मजबूत बना लें तो उसे कोई नहीं रोक सकता जैसा कि डॉ. उमेश कुमार सिंह ने अपने जीवन में किया। दलित बस्ती के लोग इनका मजाक बनाते रहे, तानाकसी करते रहे मगर ये जिन्दगी में आगे बढ़ते रहे। दलित बस्ती में शिक्षा का माहौल नहीं होता था। उमेश कुमार सिंह को भी पांचवी के इम्तहान के लिए दूसरे गांव जाना पड़ता था। जहां रात होने पर सवर्ण ठाकुर के यहां ठहरते थे दलित छात्र गंदी नाली के पास चबूतरे पर ठहरते थे। इनके साथ भेदभाव की स्थिति इस प्रकार स्पष्ट होती है— जिस तालाब में पशु लौटते थे, पंछी पंख भिगोते थे, परन्तु अछूतों को उस तालाब का पानी छूने तक की मनाही थी।¹⁹ दलितों को शिक्षा पाने के लिए रोकने के प्रयास किये जाते थे। लेकिन उमेश कुमार सिंह के जब्बे के सामने कुछ भी आड़े नहीं आया। इन्होंने अलीगढ़ और जेएनयू जैसे बड़े विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। शायद ऐसा करने वाले ये पहले इन्सान थे जहां सवर्णों को टक्कर देकर यहां तक पहुंच सके।

सवर्ण समाज दलितों का हर तरह से इस्तेमाल करता रहा है। जाति के नाम पर दलितों का अपमान करता है। दलित भी इन्हें सहज सामान्य बात मानते हुए इनका पालन करते रहे हैं। छुआछूत दलित जीवन में रोज-रोज होते रहते हैं। सुशीला जी कहती हैं— "बरफ

वाला उन्हें रंगीन कांच के प्यालों में बर्फ देता था मगर मुझे कागज में देता था। एक बार मेरी सहेली ने बर्फ वाले से कहा— इसको भी हमारे जैसे कांच के प्याले में बर्फ क्यों नहीं देते? उसे भी प्याले में बर्फ दो। बर्फवाला बोला— आपके प्याले में इन लोगों को कैसे दे सकते हैं बेटा?"²⁰ ये सब अपमान की बातें थी फिर भी हम लोग अछूतपन को दिखाते हुए डरे सहमे से रहते थे।

समाज में छुआछूत की भावना सर्वत्र विद्यमान थी। दलित जाति की दशा जानवरों से भी बदतर थी। 'जूटन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने हिन्दू समाज की विकृतियों का पर्दाफाश किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूटन' में गांव के भीतरी जीवन की तस्वीर को दृष्टिगोचर करते हुए लिखते हैं— "अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय, भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इन्सानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपभोग खत्म, इस्तेमाल करो, दूर फेंको।"²¹ दलितों के प्रति उच्च जाति का रवैया छुआछूत का था। सुशीला टाकभौरे जी अपनी आत्मकथा में जिक्र करती हुई कहती हैं — "ब्राह्मण जाति के लोग जानवर पाल सकते हैं लेकिन किसी गरीब के बच्चे को गोद लेकर नहीं पाल सकते। वे इतनी छुआछूत करते हैं कि दलितों की छांह से भी दूर रहते हैं।"²² सुशीला जी ने ऐसे अनुभव अपनी जिंदगी में भोगे हैं जहां मानव को एक कुत्ते जितना भी दर्जा नहीं दिया जाता। जहां वे किराये पर रहती थीं वहां उनकी सास का देहान्त हो जाने पर उनको देखने कोई नहीं आया वहीं एक उच्च वर्ग के परिवार में एक कुत्ते की मौत पर लोग सांत्वना देने जाते हैं। मानवता को कलंकित करने वाला मनुष्य का ऐसा रूप अन्दर तक झकझोर देता है। पूरी समाज व्यवस्था को उथल-पुथल करने को जी चाहता है। सिर्फ जाति के कारण ही एक मनुष्य कुत्ते के बराबर भी नहीं हो सका। स्वयं डॉ. टाकभौरे जी 'मनोगत' में लिखती हैं। मेरी आत्मकथा दलित आत्मकथा होने के साथ एक स्त्री की भी आत्मकथा है। दलित स्त्री को दोहरे संताप से मुक्ति चाहिए हर प्रकार के शोषण से मुक्ति पाना दलित साहित्य का मुख्य उद्देश्य रहा है।

सुशीला जी अधिक दिनों तक गुलामी सहने वाली नहीं थी वे बचपन से ही शोषण के विरुद्ध संघर्ष करती रही हैं। सास, पति, ननद द्वारा बार-बार किये जाने वाले अत्याचार से तंग आ चुकी थी। वे शिकंजे से आजाद होने के लिए तड़प रही थीं, लेकिन उनका दर्द दुःख पीड़ा लगातार जारी रहा। एक कॉलेज अध्यापिका जो बी.ए., बी.एड. होने के बावजूद एक झाड़ूवाली के रूप में ही नजर आती रही। उनका शिक्षा ग्रहण करने के बाद भी जाति पीछा नहीं छोड़ती। दलितोत्थान की चाहे कितनी भी बातें की जाए किन्तु यह जाति का सच ज्यों का त्यों रहता है। "सूरजपाल चौहान बेशक एक अधिकारी हैं और अन्य स्वजाति जनों की अपेक्षा साफ-सुथरे भी रहते हैं लेकिन गांव के सवर्णों के लिए आज भी इनकी पहचान एक भंगी के रूप में ही है।"²³ उच्च जाति का होने की ग्रन्थि सवर्ण समाज की मानवीयता को अन्दर ही अन्दर खोखला कर रही है।

अभिशाप्त दाम्पत्य जीवन समाज की ओछी मानसिकता के कारण ही उच्च पदों पर आसीन होने पर भी दलित शोषित, पीड़ित जीवन की वेदना सहते हैं। वर्णवादी समाज के लोग इनको कभी भी समानता की नजर से नहीं देख पाते। आज भी भारत में घरों में स्त्री पति द्वारा पीड़ित दिखाई देती है। पुरुष मानसिकता की शिकार होती रही है। सुशीला जी भी पुरुषीय स्वामित्व, गुलामी ताड़ना, मारना पिटना— पैरों की जूती समझना, नौकर सा बरताव करना आदि की शिकार होती रही हैं। वे आत्मकथा में एक स्थान पर अपना दर्द बयां करती हुई कहती हैं— “स्कूल से या बाहर से आने के बाद कभी—कभी टाकमौरै जी मेरे सामने पैर लम्बे कर देते मेरा ध्यान न रहने पर हाथों से इशारा करके जूते उतारने के लिए कहते। मैं चुपचाप उनके पैरों के पास बैठकर जूते के फीते खोलती, जूते उतारती, मोजे उतारती। यह बात मुझे अजीब लगती थी।”²⁴ यही हालात समाज में हर स्त्री के हैं। ‘दोहरा अभिशाप’ में कौशल्या बैसन्त्री भी इसी अन्याय का शिकार होती नजर आती हैं। लेखिका अपनी पीड़ा को व्यक्त करती हुई कहती हैं— ‘देवेन्द्र कुमार (मेरे पति) को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उनकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी। दफ्तर का काम और लिखना यही उसकी चिंता थी। मुझे किसी चीज की जरूरत है इसका उसने कभी ध्यान नहीं दिया।’²⁵ लेखिका का पति इतना पढ़ा लिखा होने के बावजूद भी उनकी मानसिकता वही सड़ी गली परम्पराओं में उलझी हुई थी।

सुशीला जी को जीवनभर उपेक्षा प्रताड़ना, उलाहना, मारपीट का शिकार होकर शिकंजे का दर्द सहते रहना पड़ा और लगातार वे मुक्ति के लिए संघर्ष करती रही। उन्हें तब अधिक दुख होता था जब उनके ही दलित जाति के लोग उनसे उपेक्षा हीन तिरस्कार के भाव रखते हैं। सुशीला जी ने आत्मकथा में एक जगह कहती हैं— कि “जहां कचरा उठाने वाला कुमार जाति का सफाई कर्मचारी उनका कचरा उठाते समय भुनभुनाता और वहीं पड़ोसी ब्राह्मण के घर के सामने विनम्रता प्रकट करता।”²⁶ शायद इसके पीछे सदियों पुरानी मानसिकता रही होगी। ब्राह्मणवादी व्यवस्था स्वयं को और मजबूत करने के लिए दलित जातियों में ऊँच—नीच, श्रेष्ठ—निम्न की धारणा विकसित करती है जिसके कारण दलित जातियों के लोग आपसी एकता, इन्सानी भाईचारे और समानता की बजाय आपसी भेदभाव में उलझ गये हैं।

हमारे देश में अधिकतर महिलाओं की सोचने विचारने की दिशा एक जैसी ही रही है। वे पुराने रीति—रिवाजों का विरोध नहीं करती है। इस विचारधारा को व्यक्त करती हुई सुशीला जी कहती हैं कई बार कोई बात समझाने पर मुझे डांट दिया जाता था” रहने दो तुम्हारे भाषण और तुम्हारी शिक्षा। तुम क्या हमारे घरों में मदद करने वाली हो। हम अपने घर में खुश हैं तुम अपने काम में खुश रहो।”²⁷ समाज की यही मानसिकता तो बदलनी है। जो नारी को सबला से अबला बनाती नजर आ रही है। जब तक स्त्रियाँ आत्मनिर्भर नहीं बनेगी तब तक वे प्रगति के पथ पर कैसे आगे बढ़ सकेंगी। इस बात का समय रहते ही समझना होगा। स्त्री विमर्श के संदर्भ में

सिमॉन द बोअवा कहती हैं कि औरत होती नहीं बनाई जाती है।” इसी बात को टाकमौरै पर घटित होता देख सकते हैं लेकिन वह पूरी आत्मकथा में परिवार में, संस्थान में और समाज में अपनी पहचान के लिए संघर्ष करती हैं। इसी संघर्ष के चलते वह आम दलित महिला से ऊपर उठकर शिक्षा अर्जित करती हैं। वह हर कदम पर व्यक्तिगत स्तर पर पति और परिवार में संघर्ष करती हैं। शिक्षा पाने के लिए वह पति से भी दो चार होती हैं, विरोध सहती है। सबके विरोध के बावजूद वह शिक्षा लेकर ऊपर उठती है तब बोअवा के कथन को गलत साबित करती है। यह कथन इन पर पूरा नहीं उतरता है जबकि परिस्थितियाँ वैसी ही हैं। अगर वह संघर्ष नहीं करती, सामना नहीं करती तो वह सिमॉन द बोअवा की दलित औरत बनकर रह जाती।

सुशीला जी एक दलित महिला होने का सन्ताप अपनी जिन्दगी में भोग चुकी हैं। दलित महिला होने के बावजूद अपना व्यक्तित्व बनाती है, पहचान कायम करती है। जहां समाज में दलित स्त्री को अपमानित किया जाता है। उसी समाज में रहकर उन्होंने अपने बच्चों की अच्छी परवरिश की उनको अच्छी शिक्षा उपलब्ध करवायी। यहां तक पहुंचने में इनको लगातार संघर्षरत रहना पड़ा। आत्मकथा में इसी संघर्ष को व्यक्त करते हुए कहती हैं कॉलेज में हमेशा मेरे साथ भेदभाव, ऊँच—नीच का व्यवहार किया जाता था लेकिन हमेशा मैं डटकर सामना करती थी। इसी बात पर एक दिन सुपरवाइजर को धमकाते हुए बोली— “आप मेरे साथ भेदभाव करते हो मेरे साथ जातिभेद मानते हो, इसलिए जानबूझकर मुझे परेशान करते हो।”²⁸ उनका ये रूप देखकर सब स्तब्ध रह गये।

सुशीला जी न केवल अपने आपको ऊपर उठाती हैं अपितु दलित समाज को भी ऊपर उठाने में योगदान देती है। उन्होंने अपनी बेटियों की शादी बिना दहेज के करना और अन्तरजातीय विवाह करना जैसे काम समाज में प्रेरणादायी है। जहां समाज में खासकर दलित समाज में दहेज आवश्यक है। उसी समाज में बिना दहेज के शादी करना आसान तो नहीं रहा होगा लेकिन फिर भी यह उन्होंने किया। सुशीला जी का मानना है कि अन्तरजातीय विवाह से जातिभेद मिट सकता है। अंबेडकरी चेतना भी जाति मुक्ति पर आधारित है। स्वयं अंबेडकर दूसरी शादी ब्राह्मणी से करते हैं। जाति मुक्ति में अंतरजातीय शादी भूमिका निभा सकती है। इसकी शुरुआत उन्होंने अपने घर से ही की। अपनी बेटी का अन्तरजातीय विवाह वो भी बौद्ध पद्धति से करवाकर समाज के सामने एक नई मिशाल पेश की है। वह लिखती हैं कि मेरा लेखन मेरी जरूरत है मेरे समाज को जरूरत है। सामाजिक आर्थिक व्यक्तिगत जीवन में कई तरह के शिकंजों का दर्द मैंने सहा है, लेकिन लेखन से मुझे ऊर्जा मिली है। पहचान दी है मेरा लक्ष्य निर्धारित किया है। इनका लेखन आधार जातिगत अपमान की कचोट और पीड़ा उत्पीड़न की वेदना है। दलित विमर्श के साथ—साथ नारी शोषण की स्थिति को बताने और मुक्ति पाने का आह्वान इनके लेखन का उद्देश्य रहा है। जब तक अन्याय को सहते रहेंगे अन्याय उतना ही बढ़ता जायेगा। अन्ततः हम कह सकते हैं कि दलितों में भी

दलित समझी जाने वाली नारी उपेक्षा प्रताड़ना, संत्रास, पीड़ा आदि का शिकार रही है। अन्याय का दर्द सहते हुए शिकंजे से मुक्त होने के लिए विद्रोह को प्रकट करती दिखायी देती है। वह समझ गयी है कि मनुवादी गुलामी से निकलकर स्वयं और समाज का विकास करना है तो समाज में परिवर्तन की लहर लानी होगी। यह परिवर्तन तब आयेगा जब शिक्षा रूपी हथियार हाथ में आयेगा।

उद्देश्य

इस लेख का उद्देश्य दलित उत्पीड़न से मुक्ति की लड़ाई है। जो सबको दिखाई दे रही है इसी तरह नारी मुक्ति की भी लड़ाई हो जिसे सब जानें और समझें। समाज में नारी के प्रति 'अबला' की मानसिकता को बदलकर नारी के सबल रूप से स्थापित करना नारी मुक्ति का उद्देश्य है। नारी शोषण अपमान के खिलाफ उठाने का उद्देश्य इस लेख में निहित है।

निष्कर्ष

दलित लेखन का समग्रतः अध्ययन करने के बाद निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है। कि पुरुषासत्ता प्रधान समाज में स्त्री शोषण उजागर होता है। आदर्शों के नाम इनके जीवन में शोषण होता रहा है। पुरुष की अपेक्षा नारी अपने जीवन में अधिक समस्याओं का सामना करती है।

इन समस्याओं से डटकर यदि वह प्रगति-पथ से पीछे हटेगी तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगी। दलित लेखन ही नारी मुक्ति और नारी प्रेरणा जाग्रत कर सकता है। सदियों से तिरस्कार और अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर किये गए दलित जीवन की व्यथा लेख में समाहित है। इस लेख का उद्देश्य दर्द देने वाले शिकंजे को तोड़ने का प्रयास है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भगवानदास आत्मकथा लेखक मेरी दृष्टि में, अंगुत्तर अप्रैल-जून 1996, पृ.91
2. माता प्रसाद, दलित साहित्य की प्रमुख विधाएं, पृ.29,
3. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथा लिखने का संकट अंगुत्तर अप्रैल-जून 1996, पृ.11
4. हंस, अगस्त 2009, पृ.228
5. डॉ. श्रवण कुमार वीना- दलित साहित्य समसामयिक संदर्भ
6. शिकंजे का दर्द- मनोगत
7. दोहरा अभिशाप- कौसला बैसन्ती, पृ.27
8. अपने-अपने पिंजरे, मोहन नैमिशराय, पृ.11
9. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.60
10. जूठन- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.72-73
11. दलित साहित्य- अनुभव संघर्ष यथार्थ- ओम प्रकाश वाल्मीकि, पृ.50
12. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, पृ.32.
13. अपने-अपने पिंजरे- मोहनदास नैमिशराय, पृ.127
14. झोपड़ी से राजभवन तक, माताप्रसाद गुप्त, पृ.47
15. सूरजपाल चौहान तिरस्कृत, पृ.13
16. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.16
17. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.22
18. कौशल्या बैसन्ती, दोहरा अभिशाप, पृ.19

19. डॉ.रमेश चन्द मीणा- (एक दलित छात्र के जीवन का सच-लेख) पुस्तकवार्ता, पृ.47-48
20. वही, पृ.48
21. श्योराज सिंह बैचेन, हंस सं.राजेन्द्र यादव, जून 2005, पृ.75
22. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.47
23. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृ.11-12
24. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.48
25. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.146
26. सामाजिक न्याय और दलित साहित्य- डॉ. श्योराज सिंह बैचेन, पृ.253
27. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.141.
28. हंस पत्रिका दलित विशेषांक अंक1 अगस्त 2004, सं. राजेन्द्र यादव, पृ.70
29. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.249.
30. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ.251
31. वही, पृ.260